UGC NET - SOCIOLOGY
SAMPLE THEORY
PAPER - III

घटना विज्ञान एवं लोक विधि विज्ञान सिद्धान्त

VPM CLASSES
For IIT-JAM, JNU, GATE, NET, NIMCET and Other Entrance Exams
1-C-8, Sheela Chowdhary Road, Talwandi, Kota (Raj.) Tel No. 0744-2429714
Web Site www.vpmclasses.com E-mail-vpmclasses@yahoo.com

घटना विज्ञान एवं लोक विधि विज्ञान सिद्धान्त

घटना विज्ञान के प्रमुख सिद्धान्तकारों में अल्फ्रेड शूत्ज, पीटर वर्जर और लकमैन का नाम अग्रणी हैं। इस उपागम के प्रणेता जॉर्ज सान्त्याना माने जाते हैं।

घटना विज्ञान की परिभाषा

फिनामिनन शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ प्रकट दर्शन से है। समाज विज्ञान कोश में इसकी परिभाषा में लिखा है कि "यह दर्शनशास्त्र की एक विधि है जिसकी शुरूआत व्यक्ति से होती है। और व्यक्ति को स्वयं के अनुभवों से जो प्राप्त होता है उसे इसमें सम्मिलित किया जाता है। स्वयं के अनुभव से बाहर जो भी पूर्व मान्यताएं एवं पूर्वाग्रह तथा दार्शनिक बोध होते हैं सब इसके क्षेत्र से बाहर हैं। घटनाएं अपने वास्तविक स्वरूप में जैसी भी हैं, कर्त्ता उन्हें समझता है। इस दृष्टि से घटना विज्ञान सार रूप में व्यक्तिनिष्ठावाद ही है।"

दार्शनिकों ने फोनोमिनोलॉजी की व्याख्या कई संदर्भों में की है। फिनोमिनोलॉजी के विचारक एक बुनियादी समस्या से जुड़े हुए हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य समाज या दुनिया की वास्तविकता को जानना है।आखिर वास्तविकता क्या है? दुनिया में कौन सी वस्तुएं अस्तित्व रखती हैं और यदि दुनिया में जो कुछ वास्तविकता है जिसका अस्तित्व है उसे जानने की पद्धति क्या है? क्या दर्शनशास्त्र या कोई समाज विज्ञान दुनिया की वास्तविकता को समझ भी सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर में फिनोमिनोलॉजी का कहना है कि समाज की वास्तविकता को जानने का तरीका केवल एक है और वह है व्यक्ति का अनुभव। दुनिया में जो कुछ भी वास्तविक है उसे व्यक्ति अपनी इन्द्रियों और मानसिक प्रक्रियाओं के द्वारा अनुभव करता है दूसरे लोगों का अस्तित्व उनके मूल्य और मानक और भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को दूसरे लोगों की चेतना और जागृति द्वारा ही जाना जा सकता है।

घटना विज्ञान सिद्धान्त की पृष्ठभूमि

आज फिनोनिनोलॉजीकल के संबंध में जो कुछ हम पढ़ते हैं। उन सबकी जड़ें यूरोप के फिनोमिनोलॉजीकल दर्शन हैं।

विशेषकर एडमंड हरसेल की कृतियों में। हसरेल पहले विचारक थे जिन्होनें फिनोमिनोलॉजी पद को काम में लिया, परिभाषित किया और एक विद्या के रूप में विकसित किया। उनके अनुसार फिनोमिनोलॉजी की रूचि उन वस्तुओ को जानने में है जिनका बोध व्यक्तियों को अपनी इन्द्रियों द्वारा

होता हैं। फिनोमिनोलॉजी के बारे में यह एक अनिवार्य बिंदु है। यह विद्या कहती है कि अपने प्रत्यक्ष अनुभव को, जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं, उसे किसी और उपागम द्वारा नहीं जाना जा सकता।

हसरेल के बाद शूटज का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। वे एक सामाजिक दार्शनिक थे जो 1939 में नाजी प्रशासन की तबाहीयों से परेशान होकर अमेरिका आ गये। दिन में वे एक बैंक में काम कर जीवनयापन करते थे और सायंकाल में सामाजिक दर्शनशास्त्र पढ़ाते थे। 1952 में वे सामाजशास्त्र के प्रोफेसर हो गये। उसका देहान्त 1959 में हुआ।

हसरेल का घटना विज्ञान समाजशास्त्र

एडमंड हसरेल के समाजशास्त्रीय फिनोमिनोलॉजी को उनकी दो पुस्तकों में देखा जा सकता है। उनकी पहली पुस्तक 'फिनोमिनोलॉजी एण्ड द क्राइसिस ऑफ वेस्टर्न फिलासफी' तथा दूसरी पुस्तक 'आइडियाज जनरल इन्ट्रोइक्शन टू प्योर फिनोमिनोलॉजी' है।

अलफ्रेड शूट्ज

अलफ्रेड शूट्ज जर्मन थे। वे नाज़ी सरकार की ज्यादतियों से परेशान होकर 1939 में जर्मनी से अमेरिका भाग आये। उन्होनें समाजशास्त्र में फीनोमिनोलॉजी को प्रस्तुत किया। शूट्ज की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होनें हसरेल के दर्शन को समाजशास्त्र में स्थापित किया। शूट्ज ने जीवन जगत की चर्चा नहीं की है।

शूट्ज घटना विज्ञान सिद्धान्त : शूट्ज 1939 में अमेरिका आ गए यहां के अकादमिक क्षेत्र में उनका कई विचारकों से सम्पर्क हुआ। इन्ही दिनों में उनकी पुस्तक द फीनोमिनोलॉजी आफ द सोशल वर्ल्ड का अंग्रजी में अनुवाद हुआ। इसके परिणामस्वरूप अमेरिका के समाजशास्त्री इनकी विचारधारा से परिचित हुए। यहां आकर उन्होंने अपने सिद्धांत को निर्णायक रूप में रखा। उनका योगदान उनकी इस क्षमता में है कि उन्होनें हसरेल के क्रान्तिकारी फिनोमिनोलॉजी का तेजी से विकास शुरू किया। दूसरा परिणाम यह कि इन्होनें फिनोमिनोलॉजी में इथनोमेथडोलाजी को जन्म दिया। और तीसरा शूट्ज की फिनोमिनोलाजी ने सम्पूर्ण सैद्धान्तिक संघर्ष को एक परिष्कृत रूप दिया। शूट्ज का कृतित्व मैक्स वेबर की सामाजिक क्रिया की अवधारणा का अत्यधिक प्रयोग किया है। अध्ययन की इस प्रक्रिया में वेबर वेरस्टेहन यानी समझ या अभिप्राय की विधि को अपनाते हैं।

लोकविधि विज्ञान सिद्धान्त

एथनोमेथडोलॉजी की परिभाषा – अंग्रेजी भाषा के शब्द एथनो का अर्थ होता है लोक या जन साधारण। जब जन साधारण अपनी धारणाओं को बनाने के लिये कतिपय पद्धतियों को अपनाते हैं तो इसे मेथड कहते हैं। जब इन पद्धतियों को वैज्ञानिक संदर्भ में अध्ययन किया जाता है तो इसे लॉजी कहते हैं। इस प्रकार एथनोमेथडोलॉजी लोक या जन साधारण द्वारा प्रयुक्त विधियों का वैज्ञानिक अध्ययन हैं।

अवधारणा एवं नियम : एथनोमेथडोलाजिस्ट यह जानना चाहते हैं कि लोगों द्वारा बनायी गयी जो यथार्थता है उसका रख रखाव कैसे होता है ? और वह किस प्रकार बदलती है? लोगों में यर्थाथ के प्रति जो भी बोध है उनके निर्माण के लिए कोई ऐसी अवधारणाएं या प्रस्ताव नहीं है जो सर्वसम्मत हो फिर भी यहाँ हम उन अवधारणाओं और नियमों का उल्लेख करेंगे जो एथनोमेथ–डोलाजी सिद्धान्त में केन्द्रीय हैं। इन अवधारणाओं को टर्नर एथनोमेथडोलोजी की प्रमुख अवधारणा मानते हैं।

एथनोमेथडोलाजी उपरोक्त दो अवधारणाओं – आत्मवाचक और संदर्भ के माध्यम से अंतर्क्रियाओं का विश्लेषण करता है। ये अंतः क्रियाएं हमारे इर्द–गिर्द के समाज के विश्लेषण में सहायक हैं।

लोक विधि विज्ञान और गारफिंकल : हेराल्ड गारफिंकल एथनोमेथडोलाजी अग्रणी सिद्धान्तवेता हैं। 1967 में उनकी पुस्तक स्टडीज इन एथनोमेथडोलाजी का प्रभाव अमेरिका के अकादमिक क्षेत्र में कुछ ऐसा पड़ा कि हर समाजशास्त्री अपने आपको एथनोमेथडोलाजिस्ट समझने लगा। इस उपागम की मनमानी व्याख्याएं की गईं। इस सब के होते हुए भी सभी ने गारफिंकल को एथनोमेथडोलाजी का जनक स्वीकार किया गया।

1917 में जन्में गारफिंकल ने अपनी डाक्टरेट हार्वर्ड विश्वविद्यालय अमेरिका से 1952 में पूरी की।

एथनोमेथडोलाजी एक नयी विधि मात्र नहीं हैं जो परम्परागत सिद्धान्त संदर्भ से जुड़ी हुयी समस्याओं का हल निकाल सके। यह एक वह सैद्धांतिक संदर्भ है जो परम्परागत समाजशास्त्रीय अध्ययन की समस्याओं से हट कर है। सच्चाई यह है कि एथनोमेथडोलाजी कुछ उन विधियों को काम में लेता है जो सामान्यतया सभी सिद्धान्त काम में लेते हैं। इसकी कुछ विधियां ऐसी हैं जो अन्य सैद्धान्तिक विधियों से भिन्न हैं। इसकी कुछ विधियां ऐसी है जो अन्य सैद्धान्तिक विधियों से भिन्न हैं। गारफिंकल एथनोमेथडोलाजी के सिद्धांत निर्माण में प्रकार्यवादी विचारधारा से असहमत हैं वे दुर्खीम के सामाजिक

तथ्य की आलोचना करते हैं। दुर्खीम कहते हैं कि व्यक्तियों के लिये वस्तुनिष्ठ सामाजिक तथ्य ही समाज हैं। दुर्खीम की तरह प्रकार्यवादी भी यह मानकर चलते हैं कि सामाजिक व्यवस्था सर्वोपरि है और व्यक्ति को इस व्यवस्था के अनुरूप ही कार्य करना चाहिये।

गारफिकल का तर्क अलग है। उनका कहना है कि सामाजिक तथ्य अपने आप में कुछ नहीं। उनका निर्माण और अस्तित्व तो व्यक्तियों की दिन प्रतिदिन की गतिविधियों पर निर्भर है।

नव–प्रकार्यवाद एवं नव–मार्क्सवाद

नव–प्रकार्यवादी समाजशास्त्र के प्रमुख प्रणेता जे. अलेक्जेंडर को माना जाता है। अलेक्जेंडर ने नव प्रकार्यवाद और मार्क्सवाद में तीन समानताएं बताई है। पहली दोनों सिद्धांत प्रकार्यवाद और मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्त में कतिपय कमजोरियां बताते हैं। दूसरी कमजोरी यह कि दोनों सिद्धांत विरोधी सैद्धांतिक परम्पराओं का समावेश करते हैं और तीसरी यह कि ये दोनों ही किसी सम्बन्द्ध सिद्धांत को नहीं रखती। आगे चलकर अलेक्जेंडर कहते हैं कि नव प्रकार्यवाद कोई विकसित सिद्धांत को नहीं है। यह तो केवल एक प्रवृति या झुकाव है। इस सिद्धांत की अलेक्जेंडर के अनुसार प्रवृतियां इस प्रकार है

1. बहु–आयामी
2. वामपंथी झुकाव
3. प्रजातांत्रिक विश्लेषण
4. संघर्ष के प्रति अभिस्थापन
5. रचनात्मकता

नव प्रकार्यवाद का विकास : यद्यपि नव–प्रकार्यवाद का प्रारम्भ जर्मनी में ई. 1984 में हुआ था। यह अपने प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप तक ही सीमित रहा। बाद में यह सिद्धांत अमेरिका में आया यहां पारसंस ने क्रिया तथा संरचना पर आधारित अपने सिद्धांत में थोड़ा परिवर्तन भी किया पर यह समाजशास्त्रीय जन समाज को रास नहीं आया।

जेफ्री अलेक्जेंडर का नव प्रकार्यवाद : पारसंस के समाजशास्त्र के निर्वाचन में अलेक्जेंडर नाम महत्वपूर्ण हैं। उनका जन्म 1947 में अमेरिका में हुआ था। उन्होनें अपनी शिक्षा–दीक्षा हारवर्ड विश्वविद्यालय में प्राप्त की थी। यहीं पर उनका परिचय पारसंस से हुआ था। उन्होनें राबर्ट बेलाह और मेलसर के मार्ग दर्शन में पी. एच. डी. की उपाधि ग्रहण की। कैलीफोनिया विश्वविद्यालय में वे

समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं। उनकी रुचि सामाजिक सिद्धांत–सांस्कृतिक अध्ययन और सामाजिक परिवर्तन में है। वैचारिक दृष्टि से अलेक्जेंडर मार्क्सवादी रहे हैं। अलेक्जेंडर की एक बहुत बड़ी उपलब्धि पारसंस को समाजशास्त्र में पुनःसीमित करने की है। उन्होनें यह स्थापित करने का प्रयास किया कि पारसंस वास्तविक योगदान प्रकार्यवादी सिद्धांत में न होकर सैद्धान्तिक समन्वय का है ऐसा करने में उन्होनें पारसंस को नये सिरे से समाजशास्त्र में प्रस्तुत किया।

अलेक्जेंडर की मुख्य कृतियां निम्न प्रकार हैं।

थियोरिटिकल लॉजिक इन सोश्योलोजी– 4 खण्ड 1982–83

नियोफंक्शनलिज्म 1985

ट्वेन्टी लेक्चर्स ऑन सोश्योथियोरी सिंस वर्ल्ड वार सेकण्ड 1987

एक्सन एण्ड इट्स एन्वायरमेंट्स 1998

फिक्स डे सिले 1995

नियो फंक्शनलिज्म एण्ड बियोन्ड 1998

अलेक्जेंडर ने पारसंस की एक और बड़ी खोज की है। वे कहते हैं कि पारसंस ही नहीं सभी क्लासिकल सिद्धान्तवेताओं का यह दोष है कि वे आदर्शवाद और भौतिकवाद के विरोध को दूर नहीं कर पाये। वेबर ने इसकी कोशिश की उन्होनें दोनों को मिलाने का प्रयास किया। पारसंस ने भी दोनों विचारधाराओं का मिश्रण करने का प्रयास किया। अलेक्जेंडर की थियोरिटीकल लोजिक इन शोश्योलाजी और पारसंस के स्ट्रक्चर ऑफ सोश्यल एक्शन में कई समान्ताएं है फिर भी दोनों के विश्लेषण जुदा–जुदा हैं।

1. उत्तर प्रत्यक्षवाद पर आधारित
2. नया सैद्धान्तिक तर्क
3. पारसंस का अस्पष्ट प्रकार्यवाद

अलेक्जेंडर प्रकार्यवाद की व्याख्या नये सिरे से निम्न बिन्दुओं में करते हैं और यह उनकी उल्लेखनीय देन है।

1. सम्पूर्ण समाज का विवरण एक खुले और बहुलवादी रूप में होना चाहिये।

2. जब क्रिया और संरचना की व्याख्या करनी होती है तो इसे खुले मस्तिष्क से करना चाहिये। यह नहीं कि क्रिया ही संरचना को निर्धारित करती है और न ही संरचना क्रिया को पक्का करती है। यह विश्लेषण खुला होना चाहिये। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

3. एकीकरण होने की सम्भावना होनी चाहिए और विचलन तथा संघर्ष को यथार्थता समझना चाहिये।

4. व्यक्तित्व, संस्कृति और समाज को उनके पृथक रूप में पहचानना चाहिये।

5. सामाजिक परिवर्तन के लिये विभेदन होना आवश्यक है।

नव मार्क्सवाद – नव मार्क्सवाद वह है जिसमें कोई भी सामाजिक सिद्धान्त या समाजशास्त्रीय विश्लेषण में मार्क्स के विकास में बहुत महत्वपूर्ण योगदान किया। विद्वान मार्क्स उसको मार्क्सवाद का जनक मानते हैं तथा एंगेल्स को अपना मूल संदर्भ बनाते हैं।

समाज में अब नव मार्क्सवादियों ने मार्क्स की व्याख्या एकदम नये सिरे से प्रारम्भ कर दी। हेबरमॉस फ्रेंकफर्ट स्कूल की परम्पराओं को आगे बढ़ाने वाले है। वे इसके पदाधिकारी भी रहे हैं। यही हाल अल्थ्यूजर और जेमेसन का रहा है। फ्रेंकफर्ट स्कूल के विस्तृत स्वरूप ने ही नव मार्क्सवादियों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। जिस विचारधारा को फ्रेंकफर्ट ने पैदा किया था उसे इन लेखकों ने आगे बढ़ाया। इस पीढ़ी के विचारकों का यह दृढ़ विश्वास था कि यदि मार्क्सवाद को एक बौद्धिक विधा और समाजवादी विचारधारा की तरह जीवित रहना है तो इसमें संशोधन करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता ने ही नव मार्क्सवाद को जन्म दिया और आगे बढ़ाया।

नव–मार्क्सवादी सिद्धान्त और उपागम

जेम्स पीटर, प्रोलूण्ड थोम्सन और हेने एन्डरसेन

हेबरमॉस और अल्थूजर : नव मार्क्सवादी विचारक

युरगेन हेबरमॉस

संरचनाकरण तथा उत्तर आधुनिकतावाद

एन्थेनी गिडेन्स : गिडेन्स एक ब्रिटिश समाजशास्त्री हैं। इनका जन्म 1938 में हुआ। इन्होनें स्नातक स्तर की शिक्षा लंदन के हल विश्वविद्यालय में प्राप्त की। लन्दन स्कूल आफ इकोनोमिक्स से डाक्टरेट की उपाधि ली और बाद में इसके निदेशक की तरह काम भी किया। यहाँ उन्हें इंग्लैण्ड तथा यूरोप के कई नामी–गिरामी समाजशास्त्रियों के साथ काम करने का अवसर भी मिला। इन्होंने लंदन की

राजनीतिक गतिविधियों में भी भागीदारी की है। वे लेबर पार्टी के सदस्य भी थे। पोलिटी प्रेस प्रकाशन संस्था में इन्होनें निदेशक का काम भी किया है। कुल मिलाकर, गिडेन्स एक भ्रमणशील समाजशास्त्री हैं।

गिडेन्स का संरचनाकरण सिद्धान्त

अपनी पुस्तक दि कांस्टीट्यूशन ऑफ सोसाइटी में वे पुस्तक के प्रारंभ में वे तीन प्रश्न रखते हैं। क्या समाज व्यक्तियों की क्रियाओं के इस जोड़ से भी अधिक हैं ? क्या संरचना प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाओं से स्वतंत्र हैं। ये कुछ असुविधाजनक किंतु बुनियादी प्रश्न हैं। जिनका उत्तर गिडेन्स ने संरचनाकरण में दिया हैं।

1. समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को मोटे तौर पर दो समूहों में रखा जा सकता है। पहला समूह उन सिद्धान्तों का है जो यह मानकर चलते हैं कि समाज या संरचना एक व्यवस्था है। इस समूह के सिद्धांत कर्त्ता की अवहेलना करते हैं।

2. समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में पाए जाने वाले इस दोहरेपन का निदान गिडेन्स ने किया है। ई. 1976 से लेकर 1981 तक अपने विभिन्न प्रकाशनों के माध्यमों से कई सिद्धांतों के साथ संवाद स्थापित किया है इस संवाद को उन्होनें बड़े विश्वास के साथ कान्स्टीट्शन ऑफ सोसाइटी में रखा है।

जॉक देरिदा

देरिदा उतर आधुनिकवाद के विचारक माने जाते हैं। देरिदा का जन्म 1930 में अल्जीरिया में हुआ। यह स्थान पेरिस से कोई ज्यादा दूर नहीं हैं। अपनी पढ़ाई के लिए देरिदा पेरिस आ गए। यहां की प्रतिष्ठित संस्था विकोले बोरमले में उन्होनें अपनी पढ़ाई की। इन्हें विद्वान के रूप में कोई नहीं जानता था। ई. 1963 में उनके दो निबंध क्रिटिक नामक शोध पत्रिका में प्रकाशित हुए। इन दोनों निबंधों में देरिदा ने ग्रानेटोलॉजी अर्थात व्याकरणशास्त्र एक विचारक के रूप में स्थापित, यह समझा जाने लगा कि वे भाषा है। भाषा की इस खर्च ने उन्हें उत्तर संचारतावादी को प्रणेता बना दिया है।

देरिदा की अंग्रेजी में अनुदित आठ पुस्तकें इस तरह है।

1. स्पीच एण्ड फिनोमिना एण्ड अदर एसेस 1973
2. आफ ग्रामिटीलॉजी 1967
3. राइटिंग एण्ड डिफरेन्स 1967

4. पोजिशन्स 1972

5. डिसेमिनेशन 1972

6. मार्जिस ऑफ फिओसोफी 1972

7. ग्लास 1974

8. दि टूथ इन पेंटिंग 1978

मिशेल फूको

पाल मिशेल फूको का जन्म फ्रांस के पोइटर्स नामक स्थान पर अक्टूबर 1926 में हुआ था और देहांत जून 25, 1984 को पेरिस में हुआ था। उनकी पहली पुस्तक 1961 में प्रकाशित हुई इस तरह उनके रचनाकाल लगभग एक चौथाई शताब्दी का है।

फूको की कृतियां केवल चार हैं।

1. मेडनेस एण्ड सिविलाइजेशन
2. दि वर्थ आफ दि क्लिनीक
3. डिसिप्लिन एण्ड पनिश
4. हिस्ट्री आफ सैक्सुऐलिटी

सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

किसी भी समाज का अध्ययन करने से पहले हमें यह तय करना होता है कि उसके लिए कौन से सैद्धान्तिक उपागम या परिप्रेक्ष्य को अपनाया जायेगा। सामाजिक परिस्थिति, अध्ययन विषय अध्ययन के लिए उपलब्ध साधन, समय उपलब्ध अनुसंधानकर्ता एवं क्षेत्र की विशेषताओं के आधार पर ही सैद्धान्तिक उपागम अनेक है जिनका प्रयोग भारतीय समाज को समझने के लिए विभिन्न विद्वानों ने किया है। किन्तु इनमें से कुछ प्रमुख उपागमों या परिप्रेक्ष्यों, का हम उल्लेख करेंगें :

भारत विद्या/वाङ्मयी परिप्रेक्ष्य

इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति तथा भारत विद्या के आधार पर अध्ययन किया जाता है। इसमें सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन प्राचीन भारतीय इतिहास, पुराणों, धर्मग्रन्थों एवं शास्त्रों के आधार पर किया जाता है। इसके प्रमुख समर्थन घुरिये एवं ड्यूमां हैं जिनके विचारों का हम यहां उल्लेख करेंगे।

भारत विद्या शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य : घुरिये के विचार

भारत में समाजशास्त्र के साथ गोविन्द सदाशिव घुरिये का नाम बड़े सम्मान के साथ जुड़ा हुआ है। वे भारत की प्रथम पीढ़ी के समाजशास्त्रियों में से हैं जिन्होनें भारत में न केवल समाजशास्त्र को दृढ़ता से स्थापित किया बल्कि कई ऐसे छात्र भी प्रदान किये जिन्होनें देश के देश के विभिन्न भागों में समाजशास्त्र विषय की स्थापना की एंव समाजशास्त्रीय शोध एवं सिद्धान्तों के द्वारा समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्धि प्रदान की।

भारतीय समाजशास्त्रीय जगत में प्रो. घूरिये का विशिष्ट स्थान है। अपनी लेखन निर्देशन, अध्यापन, संगठन एवं प्रेरणा की अद्भूत क्षमता के कारण उन्होनें अपना एक अनुपम स्थान बना लिया है। उन्होनें भारत में समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्ध बनाने में जो योगदान दिया है उसके लिए हम सभी उनके चिरऋणी रहेंगे।

प्रो. घुरिये की कृतियां : प्रो. घुरिये की कृतियों की एक लम्बी सूची है। उन सभी का यहां उल्लेख करना सम्भव नहीं है, किन्तु उनमें से कुछ प्रमुख रचनाएं निम्नांकित हैं।

1. The Aborigines - So called and their future, 1993
2. Family and kin in Indo-European culture, 1962
3. Cities and Civilization, 1962
4. Anatomy of a Ruruban community, 1963
5. The Scheduled Tribes, 1963
6. Indian Sadhus, 1964
7. Social Tensions in India, 1968
8. Caste, Class and Occuption, 1961
9. Culture and Society
10. Indian Costume

प्रो. घूरिये ने अपने विषयों पर लिखा है और उन्होनें जो अध्ययन पद्धति अपनायी है। प्रो. घूरिये ने अपने सभी अध्ययनों में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का उपयोग किया है।

लुईस ड्यूमां

लूईस ड्यूमां फ्रांसीसी मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री थे। ड्यूमां ने कई वर्षों तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। किन्तु सन् 1955 के बाद वे फ्रांस आ गये और यहाँ पर उन्होनें लेखन एवं अध्यापन का कार्य किया। ड्यूमां को भारत के समाजशास्त्र में विशेष रुचि थी। ड्यूमां भारतीय जाति व्यवस्था तथा संस्तरण को अपने विश्लेषण "कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू इण्डियन सोशिओलाजी" नामक पत्रिका के एक संस्थापक के लिए विशेषतः जाने जाते हैं। भारतीय जाति व्यवस्था के आतिरिक्त ड्यूमां की भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी विशेष रुचि थी। इसके कई पक्षों जैसे नातेदारी, धर्म, विवाह आदि पर भी ड्यूमां ने कई लेख और पुस्तकें लिखीं हैं। सन् 1970 में ड्यूमां ने अंग्रेजी भाषा में एक पुस्तक "होमो हाइअरर किकस" लिखी।

ड्यूमां ने जाति व्यवस्था के अतिरिक्त दक्षिण भारत में प्रचलित नातेदारी व्यवस्था पर भी कार्य किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दक्षिण भारत में परमली कल्लार नामक समुदाय पर गहन कार्य किया है।

ड्यूमां एक विशेष परिचर्चा के लिए भी प्रसिद्ध है जो 1957 में एक लेख द्वारा प्रारम्भ हुई। अपने लेख 'भारत के लिए समाजशास्त्र में ड्यूमां ने भारतीय समाजशास्त्र की प्रकृति सिद्धान्त और अवधारणाओं और पद्धति विज्ञान के बारे में अपने विचारों को प्रकट किया।

संरचना प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य

समाजों का अध्ययन करने के लिए मानवशास्त्र में एक लम्बे समय तक संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पद्धति का प्रयोग होता रहा है। मानवशास्त्रियों का प्रभाव समाजशास्त्रियों पर भी पड़ा और उन्होंने भी इस उपागम को अपनाया। इस उपागम के अनुसार किसी भी समूह, समुदाय या समाज का अध्ययन करने से पूर्व उसकी संरचना को ज्ञात किया जाता है अर्थात् संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयों को ज्ञात किया जाता है। इन इकाइयों का सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन में जो योगदान है, उसे प्रकार्य कहते हैं। मानवशास्त्र और समाजशास्त्र में इस उपागम का खूब प्रयोग हुआ इसलिए डेविस कहते हैं कि समाजशास्त्र में जो कुछ है उसका तीन चौथाई भाग संरचनात्मक प्रकार्यवाद है।

डॉ. एम. एन. श्रीनिवास

डॉ. एम. एन. श्रीनिवास भारतीय समाजशास्त्रियों की प्रथम पीढ़ी के समाजशास्त्री हैं। इनका पूरा नाम मैसूर नरसिम्हाचार श्रीनिवास है। उन्होनें बम्बई विश्वविद्यालय से अपना शैक्षणिक कार्य समाप्त किया। इससे पहले इन्होनें मैसूर की ही स्थानीय शिक्षण संस्थाओं में अध्ययन ग्रहण किया।

कर्नाटक में अपने मूल निवास स्थान का लगाव और शोधगांव का आकर्षण उन्हें बंगलौर स्थापित "सामाजिक आर्थिक परिवर्तन संस्थान" में खींच लाया। इस संस्थान के अध्यक्ष बनने पर उन्होंने समाजशास्त्र, सामाजिक मानवशास्त्र और अर्थशास्त्र के बीच की खाई को बांटने का प्रयत्न किया।

डा. श्रीनिवास ने अनेक सम्मानीय पदक एवं उपाधियां प्राप्त की है। 'रॉयल एन्थ्रोपॉलॉजिकल इन्स्टिट्यूट' इंग्लैण्ड ने उन्हें रिवर्स और हक्सले मेडल प्रदान किए। अमेरिका से उन्हें कला और विज्ञान पर शोध हेतु फैलोशिप प्रदान की गयी। इससे पहले उन्होंने ब्रिटिश अकादमी से भी फैलोशिप प्राप्त की थी। वे भारत सरकार द्वारा "पद्मभूषण" उपाधि से भी सम्मानित हैं।

डा. श्रीनिवास के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम द्वारा किए गये अनेक शोध कार्य हैं। इनमें से प्रमुख – The Religion and Society Among the Coorge of South India, (1952) जो उनके पी. एच. डी. शोध कार्य के फलस्वरूप लिखी गयी। इस पुस्तक में उन्होनें कुर्गवासियों के धर्म एवं सामाजिक संरचना का विस्तृत उल्लेख किया है।

इसी अर्थ में डा. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की अवधारणा जिसे पहले ब्राह्मणीकरण कहा गया का उल्लेख किया है। उन्होंने देखा कि कुछ लिंगायत जो कि विश्वकर्मा को अपना आराध्य देव मानते थे। डा. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया हैं जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन–पद्धति को बदलता है सामान्यतः ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति, जातीय संस्तरण की प्रणाली में जो स्थान उसे मिला हुआ है उससे ऊंचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों तक दावा किए जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर संस्कृतिकरण की निम्नांकित विशेषताएं प्रकट होती हैं।

1. संस्कृतिकरण का सम्बन्ध निम्न जातियों से है।
2. यह सामाजिक गतिशीलता को प्रकट करने वाली प्रक्रिया हैं।
3. यह प्रक्रिया हिन्दू जातियों तक ही सीमित नहीं है।
4. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के कई आदर्श हो सकते है।
5. इस प्रक्रिया द्वारा उच्च जाति के प्रचीन मूल्यों एवं शब्दावली को भी अपनाते हैं।

6. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है।

7. यह एक बहुआयामी प्रक्रिया है।

8. यह विचारधारा को ग्रहण करने वाली प्रक्रिया है।

डा. श्रीनिवास की एक अन्य पूस्तक "भारतीय ग्राम" है जो उनके द्वारा मैसूर के एक गांव रामपुरा के अध्ययन पर आधारित है।

श्यामचरण दूबे

प्रो. दुबे देश के मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों में से एक लब्ध–प्रतिष्ठित विद्वान हैं। उनका व्यक्तित्व प्रलेखन बहुआयामी रहा है। उन्होनें जनजातियों, ग्रामीन जीवन, सामुदायिक विकास, आधुनिकीकरण, सामाजिक परिवर्तन, परम्परा का प्रबन्धन तथा विकास आदि पर अपने बहुमूल्य अध्ययन और विचार प्रस्तुत किए हैं।

प्रो. दुबे ने कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त समितियों और संस्थाओं में विभिन्न पदों को भी सुशोभित किया।

वे Indian Institute of Advanced Study, Shimla (1972-77) के निदेशक, जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति (1978–80), आई. सी. एस. एस. आर के नेशनल फैलो (1980–83) तथा यूनेस्को और संयुक्त राष्ट्र संघ की कई संस्थाओं के गौरवपूर्ण पदों पर रहे। प्रो. दुबे मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग, भोपाल के अध्यक्ष भी रहे हैं। प्रारम्भिक दौर में प्रो. दुबे सामुदायिक ग्रामिण विकास के राष्ट्रीय संस्थान, में सलाहकार थे। सन् 1975–76 में दुबे, अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय परिषद् आई. एस. एस. के अध्यक्ष भी रहे।

प्रो. दुबे की प्रमुख कृतियां निम्नांकित हैं :

1. The Kamar
2. Indian Village (1955)
3. India's Changing Villages (1958)
4. Tribal Heritage of India (1977)
5. Modernization and Development (1988)
6. Indian Society (1992)

डा. डी. पी. मुखर्जी भारतीय समाजशास्त्र को अमूल्य योगदान प्रदान करने वाले एक प्रमुख समाजशास्त्री धुर्जटि प्रसाद मुखर्जी हैं, जिन्हें प्यार से लोग डी. पी. के नाम से पुकारते थे। डी. पी. मुखर्जी एक लब्ध प्रतिष्ठित भारतीय थे जिन्होंने न केवल समाजशास्त्र के क्षेत्र में ही, बल्कि अर्थशास्त्र, साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में भी अपना कीर्तिमान स्थापित किया।

डी. पी. मुखर्जी की प्रमुख कृतियां

1. समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएं, 1932
2. आधुनिक भारतीय संस्कृति, 1942
3. भारतीय संगीत का परिचय 1945
4. भारतीय युवकों की समस्याएं, 1946
5. विचार और प्रतिविचार, 1946

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त आपने तीन उपन्यास भी लिखे एवं आपका एक कहानी संग्रह भी छपा है। आपने रवीन्द्र नाथ टैगोर के साथ एक संगीत की पुस्तक भी लिखीग्र बंगाली भाषा में आपके द्वारा लिखे गये निबन्धों के दो लेख भी छपे है।

वैश्वीकरण की चुनौतियां

समाजशास्त्र का भारतीयकरण

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया उपनिवेशवाद से प्रभावित रही है। यह प्रश्न अक्सर उठाया जाता है कि क्या समाजशास्त्र काल व देश समाज व संस्कृति अतीत व वर्तमान की विशिष्टताओं से प्रभावित होकर एक स्वरूप व चरित्र प्राप्त करता है।

डूमां और पोकार के मुताबिक भारत में समाजशास्त्र के अक्षत विकास के लिए उनका बौद्धिक योगदान से संबंध स्थापित करना आवश्यक है। उनके अनुसार भारत की एकता विचारों व मूल्यों में परिलक्षित होती है। यह इसकी सामाजिक एकता की आधारभूत नीवं है।

बेली के अनुसार व्यक्ति जो सोचते हैं व उनके मूल्यों से ही समाजशास्त्र की विषय वस्तु बनती है योगेन्द्रसिंह के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र में कोई औपचारिक सिद्धांत की संरचना नहीं हुई है सिद्धांतों नहीं के बराबर है हालाकिं उपागम अनेक हैं।

योगेन्द्रसिंह के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र में प्रमुख मुद्दे कमिपय प्रश्नों से जुड़े हैं –

1. वृहद सिद्धान्त अथवा संबोधात्मकयों जना
2. सार्वभौमिकता अथवा विशिष्टता व संदर्भगतता
3. आदर्शता का सिद्धान्त निर्माण से सम्बन्ध

योगेन्द्रसिंह ने भारतीय समाजशास्त्र को 1952 से 1977 में बांधकर विवेचना की है ये काल है।

1. 1952 से 1960 दर्शनशास्त्रीय प्रभुत्व
2. 1960–1965 संस्कृतिवाद
3. 1965–1970 संरचनावाद
4. 1970–1977 द्वंदात्मक ऐतिहासिकता

योगेन्द्रसिंह के अनुसार राधाकमल मुखर्जी डी. पी. मुखर्जी व ए. के. सरन दर्शनशास्त्रीय अभिमान के प्रवर्तक रहे हैं। अरोरा रान, आई. पी. देसाई संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य में सिद्धान्त का उपयोग करते है। रामकृष्ण मुखर्जी डी. पी. मुखर्जी, ए. आर. देसाई एन कमिपय अर्थशास्त्री व इतिहासकारों के अध्ययन द्वंदात्मक ऐतिहासिकता अभिमुखन के माने जाते हैं।

योगेन्द्रसिंह के अनुसार 1970 के पश्चात् भारतीय समाजशास्त्रियों ने बेवर और मार्क्स के प्रारूप व उपागम को देशज रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है इस तरह से भारतीय समाजशास्त्रियों ने शास्त्रीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को चुनौती प्रस्तुत की है।

भारतीय समाज के निर्माण के लिए अनेक स्तरों पर विश्लेषणात्मक पहल की जा सकती है। वे स्तर हैं

1. भौतिक शारीरिक निर्माण
2. माध्यमिक परंपरात्मक निर्माण
3. निरंतरतायुक्त पुनरावृत निर्माण
4. परिवर्तित पुनरचनात्मक निर्माण
5. मूल्यांकन आंकलन निर्माण
6. अंतरिक बाह्य निर्माण
7. समन्वित साकल्यमय निर्माण
8. आंचलिक ज्ञानात्मक निर्माण
9. सार्वभौमिक सापेक्ष वदीय निर्माण

10. अनेकांतवाद

उपरोक्त वर्गीकरण विभिन्न आधारों को लेकर के भारतीय समाज का सर्वांगीय एवं इकाईबद्ध विश्लेषण करने की क्षमता रखते हैं। अलग–अलग आधारों को लेकर विश्लेषण के स्तर पर भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया जा सकता है।

वैश्विक अर्थव्यवस्था

भूमंडलीयकरण का उद्देश्य मानव जीवन और समाज के सभी पक्षों व आयामों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मुनाफाखोरी की गिरफ्त में लाना है। रपट के मुताबिक 2015 में जाकर केवल 2.2 करोड़ यानर देश के सिर्फ छः प्रतिशत बच्चे ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को सालाना करीब एक लाख रुपये फीस की मद में देने होंगे। किताब कापी उपकरण कपड़ा लता लेन देन खर्च और अगर छात्रावास में रहना पड़े तो उसका खर्च अलग से होगा। अगर मध्यवर्ग के बच्चों को उच्च शिक्षा की दौड़ में शामिल रहना है। तो समिति ने उनके लिए कर्ज लेकर उच्च शिक्षा हासिल करने की सिफारिश का मकसद यही है। कि प्रस्तावित उच्च शिक्षा का आर्थिक भार वहन कर पाने में असमर्थ किन्तु कुशाग्र बुद्धि के छात्रों का लाभ भी बाजार और पूंजीपतियों को मिल सके। यानी समाज में जो भी कुशाग्र बुद्धि उपलब्ध है। वह अनिवार्यता बाजार की भेंट चढ़नी चाहिए। कर्ज लेकर पढ़ने वाले छात्रों से जहां एक तरफ ऋण उठाएंगे उसी की सेवा में उन्हें अपना जीवन समर्पित कर देना होगा। यह भी ध्यान देने की बात है कि बाजारोन्मुख उच्चशिक्षा में दक्षता हासिल करने वाले इन छात्र नागरिकों के जीवन में सूचना तकनीक के बाहर के विषयों मसलन प्राकृतिक विज्ञान इतिहास, दर्शन साहित्य संस्कृति आदि की जानकारी की कोई जरूरत या अहमियत नहीं समझी गई है। आदिवासियों दलितों, स्त्रियों, पिछड़े अल्पसंख्यकों और अगड़ी जातियों के गरीबों के जीवन से जुड़ी समस्याओं से वे बेखबर होगे। वे बाजार के भीतर बाजार के लिए ही जिएंगे और मरेंगे। अलगाव की जो पीड़ा समाज के कमजोर समूह झेलते है वह तो और तीव्र होगी ही उच्च शिक्षा प्राप्त नागरिकों का जीवन भी अलगावग्रस्त होगा।

भारत की विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय नीति

1947 में भारत के आजाद होने पश्चात् विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के राष्ट्रव्यापी विस्तार के लिए जो नीतियां अपनाई गईं, उनकी पृष्ठभूमि स्वतंत्रता पूर्व ही बनाई जा चुकी थी – कांग्रेस द्वारा 1939 में 'राष्ट्रीय योजना समिति' 1942 में व वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की स्थापना की गयी। राष्ट्रीय विज्ञान नीति 1958 स्वतंत्रता पश्चात भारत में वैज्ञानिक सुविधाओं के विस्तार तथा आधुनिकीकरण के लिए व्यापक प्रयत्न किए गए। इसके लिए पूरे भारत में प्रयोगशालाओं, विश्वविद्यालयों एवं उच्च तकनीकी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गयी। संसद ने 4 मार्च 1958 को राष्ट्रीय विज्ञान नीति का संकल्प पारित किया। इस विज्ञान नीति में निम्न घोषणाएं की गई :

1. राष्ट्र की समृद्धि वर्तमान युग में मुख्यतया कच्चा माल, पूंजी एवं प्रौद्योगिकी के बीच सम्बन्ध में ही निहित हो। इसमें प्रौद्योगिकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

2. विज्ञान का तीव्रगति से विकास और इसका राष्ट्रहित में उपयोग बहुत जरूरी है।

3. मानव समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं तथा सांस्कृत आवश्यकताओं की पूर्ति वैज्ञानिक ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा विधियों के उपयोग द्वारा ही सम्भव है।

4. राष्ट्र की सम्पन्नता और समृद्धि औद्योगिकीकरण के द्वारा अपने देशवासियों और आर्थिक संसाधनो के प्रभावी उपयोग पर निर्भर है। मानवशक्ति का अधिकाधिक उपयोग तभी सम्भव है, जब विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी को प्रशिक्षण की सुविधा उपलब्ध कराई जाए।

5. विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के द्वारा देश में कच्चे माल का अभाव दूर किया जा सकता है।

राष्ट्रीय प्रौद्योगिकीय नीति

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में विज्ञान का धीरे–धीरे विकास हुआ और इसके विकास को बढ़ावा देने के लिए 1958 में 'विज्ञान नीति' चार की घोषणा की गयी साथ ही विदेशी अनुसंधान एवं उपलब्धियों का लाभ उठाने एवं स्वदेशी प्रौद्योगिकीय विकास के लिए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 3 जनवरी 1983 को प्रौद्योगिकीय नीति की घोषणा की। और इस नीति के उद्देश्यों पर जोर दिया गया जो निम्नलिखित हैं।

1. प्रौद्योगिक दक्षता और आत्मनिर्भरता प्राप्त करना विशेषतया सुरक्षा की दृष्टि से तथा अन्य महत्वपूर्ण संवेदनशील क्षेत्रों में सुभेधता तथा स्वदेशी संसाधनों का अधिकतम उपयोग करना।

2. समाज के सभी वर्गों के लोगों, स्त्रियों एवं कमजोर वर्गों को अधिकतम मात्रा में लाभदायक एवं संतोषप्रद रोजगार उपलब्ध कराना हैं।

3. परम्परागत हस्त कार्यों और हस्तशिल्प का उपयोग करना ताकि व्यवसायिक रूप से लाभदायक बन सके।

4. उन तकनीकों की खोज करना जो अलाभप्रद स्थिति में है या काम नहीं आने की अवस्था में है। जो वर्तमान समय के अनुसार उपयोगी नहीं हो।

5. समयानुसार नये उपकरणों तथा प्रौद्योगिकी दोनों आधुनिकीकरण की व्यवस्था करना।

6. तकनीकों व प्रौद्योगिकी का विकास करना जो कि समयानुसार लाभदायक हो तथा जो निर्यात के क्षेत्र में देश को लाभ दिला सके।

ग्रामीण समाजशास्त्र

भारत में इतिहास और अर्थशास्त्र का विश्वस्तरीय विकास हुआ है। इन दोनों विषयों में अनेक विश्व प्रसिद्ध विद्वान हैं। कहने को तो यहां तक कहा जाता है कि भारतीय इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों ने विश्व को इन विधाओं में कई उपागम प्रदान किए हैं लेकिन समाजशास्त्र यहां के लिए अपेक्षाकृत नया विषय है। इसमें कुछ गिने–चुने नाम ही मिलते हैं। फिर भी यहां जिस गति से समाजशास्त्र का विकास हुआ है वह अद्‌भुत है। समाजशास्त्रीय विकास की विशिष्टता इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि बहुत अल्प समय में ही इसके अंतर्गत विशिष्ट क्षेत्रों का विकास होने लगा है। ग्रामीण समाजशास्त्र इन्हीं विशिष्ट क्षेत्रों में से एक है जो ग्रामीण पर्यावरण में निवास करने वाले समस्त मानव समूहों के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बद्ध है।

शाब्दिक रूप से 'ग्रामीण समाजशास्त्र' का संबंध तीन प्रमुख शब्दों के योग से है, ग्रामीण + समाज + शास्त्र। समाज का तात्पर्य व्यक्तियों के बीच पारस्परिक संबंधों की व्यवस्था से है। जब यह संबंध ग्रामीण पर्यावरण तथा ग्रामीण मान्यताओं से प्रभावित होते हैं तब ऐसे समाज को 'ग्रामीण समाज' कहते हैं।

ग्रामीण समाजशास्त्र की परिभाषा

विद्वानों ने ग्रामीण समाजशास्त्र की अनेक परिभाषा की है। इन परिभाषाओं तथा उनकी सामान्य विवेचना के द्वारा ग्रामीण समाजशास्त्र के अर्थ तथा इसकी सामान्य प्रकृति को निम्नांकित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :

स्टुअर्ट चेपिन का मानना है कि "ग्रामीण जीवन का समाजशास्त्र ग्रामीण समाजिक संगठन एवं ग्रामीण समाज में कार्यरत सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन है।" चैपिन ने ग्रामीण समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

लॉरी नेल्सन ने इसमें कुछ संशोधन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि "ग्रामीण समाजशास्त्र की विषय वस्तु ग्रामीण पर्यावरण में पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के समूहों का विवेचन एवं विश्लेषण है।"

डा. ए. आ. देसाई ने ग्रामीण समाजशास्त्र की कोई निश्चित परिभाषा न देते हुए इसके उद्देश्यों के आधार पर ग्रामीण समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट किया है। आपके अनुसार "ग्रामीण समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण सामाजिक संगठन, उसकी संरचना, प्रकार्यों तथा विकास की प्रवृतियों को वैज्ञानिक, व्यवस्थित तथा विस्तृत अध्ययन करना है तथा क्रमबद्ध अध्ययन के आधार पर इसके विकास से सम्बद्ध नियमों को ज्ञात करना है।"

उत्पति एवं विकास

ग्रामीण समाजशास्त्र का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक स्वरूप सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी के मध्य से स्पष्ट होना आरंभ हुआ। पूंजीवादी व्यवस्था का उदय होने से औद्योगीकरण एवं नगरीकरण में तेजी से वृद्धि होने लगी तथा पुरानी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था टूटने लगी। औद्योगीकरण तथा नगरीय मान्यताओं ने केवल नगरों की संरचना को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि 19वीं शताब्दी में ग्रामीण समाज में भी परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ हुई जिसके फलस्वरूप अनेक नवीन ग्रामीण समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ।

सन 1908 में अमेरीका में तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने डीन बेले की अध्यक्षता में एक ग्रामीण जीवन आयोग की नियुक्ति की। इस के लिए कृषकों एवं ग्रामीण नेताओं के बीच एक प्रश्नावली की पांच लाख प्रतियां वितरित की जिनमें से लगभग एक लाख प्रश्नावलियां उतर सहित इस आयोग को प्राप्त हो गई। बाद में इस प्रश्नावली से प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस आयोग ने ग्रामीण जीवन पर जो व्यवस्थित प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, उसी को समाजशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप का प्रारंभ माना जा सकता है।

जे. एस. विलियम्स ने 'एन अमेरिकन टाउन' डब्ल्यू. एच. विल्सन ने क्वेकर हिल तथा एन. एल. सिम्स के 'ए होजियर विलेज' जैसी महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित की सन 1915 में चार्ल्स जे. गालपिन ने द

सोशल एनाटॉमी ऑफ एन एग्रीकल्चरल क्म्युनिटी नामक पुस्तक प्रकाशित की जो ग्रामीण समाजशास्त्र के भावी विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र

भारत गांवों को देश रहा है। यहां की दो तिहाई जनसंख्या गांवो में निवास करती है। एक विज्ञान के रूप में ग्रामीण समस्याओं का अध्ययन भले ही बाद की घटना हो, लेकिन भारत की संपूर्ण संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक मूल्यों में बहुत प्राचीनकाल से ही ग्रामीण चिंतन का स्पष्ट प्रभाव झलकता हैं।

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व ब्रिटिश शासन के अंतर्गत ग्रामीण जीवन के कुछ पक्षों का अध्ययन 19वीं शताब्दी से आंरम्भ हुआ।

भारत में ग्रामीण अध्ययनो का व्यस्थित विकास 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो से आरंभ हुआ। इस समय एक ओर सन 1871 में एच. एस. मेन द्वारा अनेक महत्वपूर्ण ग्रामीण अध्ययन किए गए तो दूसरी ओर कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद की अवधारणा के संदर्भ में भारतीय ग्रामीण समुदाय के जीवन से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण किए।

20वीं शाताब्दी के आरंभ से ही भारत में ग्रामीण अध्ययनों के प्रति रुचि दिखाई जाने लगी। इसी समय जे. सी. जेक ने क्षेत्रीय तथा राज्य स्तर पर एक सर्वेक्षण विधि से ग्रामीण अध्ययन आरंभ किया। यह सन 1916 में उनकी पुस्तक 'इकॉनामिक लाइफ ऑफ बंगाल डिस्ट्रिक्ट' में प्रकाशित हुआ।

भारतीय अध्येताओं ने भी अनेक मौलिक ग्रंथो तथा शीघ्र प्रबंधो द्वारा ग्रामीण समाजशास्त्र के विकास में प्रमुख योगदान दिया है। इन विद्वानों की अधिकांश रचनाएं अंग्रेजी में प्रकाशित हुई है। लेकिन सुविधा के दृष्टिकोण से उनकी रचनाओं के हिंदी अनुवादों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है –

1. श्यामाचरण दुबे 'भारतीय ग्राम' 'भारत के परिवर्तनशील ग्राम'।
2. एम. एन. श्रीनिवास 'भारत के ग्राम' मैसूर के एक गांव की सामाजिक व्यवस्था 'एक स्मृति ग्राम'।
3. डी. एन. मजूमदार ग्रामीण पार्श्वचित्र एक भारतीय ग्राम में जाति तथा संचार।
4. राधा कमल मुखर्जी 'ग्रामीण समाज की गत्यात्मकता' 'बंगाल के छः गांव'।
5. मैकम मैरियट 'ग्रामीण भारत'।

पंचायती राज व्यवस्था

पृष्ठभूमि : भारत ने वैदिक काल से लेकर आज तक पंचायतों का अस्तित्व किसी न किसी रूप में सदैव बन रहा है। महाभारत काल में पंचायतों की शक्ति इतनी अधिक थी कि राजा को भी इनके कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। उस समय पंचायतों को 'गण' या सभा के नाम से संबोधित किया जाता था। इस ग्राम सभा को अपने सदस्यों को दंड देने के साथ ही आर्थिक व्यवस्था के संचालन का भी अधिकार मिला हुआ था। प्राचीन भारत में भी गांव पंचायतों के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, पंचायतों का सम्मान सर्वोपरि था, भूमि के वितरण, करों की वसूली, सार्वजनिक निमार्ण कार्य तथा न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में पंचायतों का अधिकार सर्वोच्च था।

भारत में ग्राम पंचायतों के पुनर्गठन के लिए प्रारंभिक 10 वर्षों में जो भी प्रयास हुए वे अनके उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए किए गए थे।

1. ब्रिटिश शासन काल से गावों की आत्म निर्भरता समाप्त होने के कारण उनका सामाजिक और आर्थिक स्तर इतना गिर गया था कि स्वायतशासी संस्था के रूप में ग्राम पंचायतों की स्थापना के बिना इस स्थिति में सुधार संभव नहीं था। इस दृष्टिकोण से पंचायतों को विकास का सर्वोतम साधन समझा गया, क्योंकि पंचायतों द्वारा ही स्थानीय समस्याओं का समझकर उनका व्यवहारिक हल ढूंढा जा सकता है।

2. ग्राम पंचायतों के पुनर्गठन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सता का विकेंद्रीकरण करना था, जिससे प्रत्येक स्तर पर शासन का भार जनता के प्रतिनिधियों पर छोड़कर उन्हें विकास के समुचित अवसर प्रदान किए जा सकें।

3. पंचायत राज व्यवस्था का आधारभूत उद्देश्य प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों को इस योग्य बनाता है कि वे संपूर्ण जनता के हित में व्यापक और अनवरत विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। पंचायती राज एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रजातांत्रिक संस्थाओं तथा विस्तार सेवाओं को ब्यावहारिक रूप दिया जा सकता है।

4. प्रत्येक स्तर पर शासन के लिए सहयोग प्रदान करने वाली स्वायतशासी संस्थाओं के विकास के लिए भी गांव पंचायतों का विकास होना आवश्यक है।

73वें संशोधन से पूर्व

स्वतंत्र भारत में ग्रामीण समुदाय के सर्वांगीण विकास के लिए सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं सन 1953 में राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना आरंभ की गई। इन कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य ग्रामीणों में आत्मनिर्भरता तथा जन सहभागिता की वृद्धि करना था। सन् 1955 में केंद्रीय मूल्यांकन समिति ने यह स्पष्ट किया कि सामुदायिक विकास योजना द्वारा ग्रामीण जीवन से संबंधित कुछ भौतिक लक्ष्यों को अवश्य प्राप्त कर लिया गया है लेकिन यह जनसाधारण का कार्यक्रम बनाने एवं असफल रहा है। इस कार्यक्रम को जनता का कार्यक्रम बनाने एवं इसमें ग्रामीणों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए सन 1957 में बलवन्त राय मेहता अध्ययन समिति, ने अपने प्रतिवेदन में यह सुझाव दिया कि ग्राम विकास से संबंधित योजना बनाने और इन्हें क्रियान्वित करने के लिए प्रशासनिक कार्यों का विकेंद्रीकरण किया जाएं तथा स्वशासन के अधिकार जनप्रतिनिधियों को सौपं दिए जाएं। इस समिति के प्रतिवेदन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना के लिए लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को अनिवार्य माना गया। इस प्रकार पंचायत राज व्यवस्था की स्थापना के लिए बलवन्त राय मेहता समिति ने जिस योजना को प्रस्तुत किया था उसी को 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' के नाम से जानते हैं। सन् 1957 में प्रस्तुत इस योजना को कार्य रूप देने के लिए 12 जनवरी 1958 में राष्ट्रीय विकास समिति द्वारा इसे स्वीकार कर लिया गया। मेहता समिति ने समुदायिक विकास कार्यक्रम को एक लक्ष्य मानते हुए पंचायती राज व्यवस्था को इस लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप में स्पष्ट किया था।

73 वां संशोधन

भारत सरकार ने सन 1989 में संविधान में संशोधन करने के लिए एक विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया। इस विधेयक को लोकसभा द्वारा 22 दिसंबर 1992 को 73वां संशोधन अधिनियम 1992 के रूप में पारित किया गया। राज्य सभा ने भी 23 दिसंबर, 1992 को इस अधिनियम को अपनी स्वीकृति दे दी। इसके पश्चात जब 17 राज्यों ने इस अधिनियम को अपने–अपने राज्यों को स्वीकार करने से संबंधित सूचना केंद्र सरकार को भेज दी, तब इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया गया। इस प्रकार 24 अप्रैल 1993 से संविधान के 73वें संशोधन के रूप में यह संविधान अधिनियम 1992 संपूर्ण देश में लागू हो गया। इस अधिनियम का उद्देश्य संम्पूर्ण देश में एक समान पंचायती राज व्यवस्था लागू करना तथा पंचायती राज संस्थाओं को ग्रामीण विकास में सक्रिय भूमिका निभाने के योग्य बनाना

है इसी संविधान अधिनियम 1992 को हम केंद्रीय पंचायती राज अधिनियम 1992 भी कहते हैं। पंचायत राज संशोधन अधिनियम 1992 के प्रमुख उद्देश्यों तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है

उद्देश्य

1. ग्राम सभा को पुनर्जीवित करके ग्राम तथा दूसरे स्तरों पर पंचायती राज संस्थाओं की सम्पूर्ण देश में स्थापना करना।

2. ग्रामीण तथा अन्य स्तरों पर पंचायतो के प्रत्येक पद के लिए प्रत्यक्ष चुनाव की नीति को अपनाना।

3. पंचायत राज को सभी संस्थाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए स्थान सुरक्षित करना।

4. पंचायत राज की संस्थाओं में एक तिहाई पद स्त्रियों के लिए सुरक्षित करना।

5. पंचायतो का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित करना तथा यदि किसी कारण पंचायत को भंग किया जाए तो 6 माह की अवधि के अंदर चुनाव करवाना।

प्रमुख विशेषताएं

1. नए अधिनियम के अनुसार गांव सभा एक ऐसी संस्था होगी जिसमें पंचायत क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले सभी वयस्क व्यक्ति इसमें सहभाग करेंगे।

2. नई पंचायती राज व्यवस्था तीन स्तरों वाली होगी ग्राम स्तर, मध्यवर्गी स्तर तथा जिला स्तर। जिन राज्यों की जनसंख्या 20 लाख से कम है उनके लिए मध्यवर्ती स्तर को गठित करना अनिवार्य नहीं होगा।

3. तीनों स्तरों पर पंचायती राज संस्थाओं के पद प्रत्यक्ष चुनाव से भर जाऐंगे। ग्राम पंचायतों के प्रमुख मध्यवर्ती स्तर की पंचायत के सदस्य बन सकेंगे। इस प्रकार मध्यवर्ती पंचायतों के कुछ सदस्यों का जिला स्तर की पंचायत में प्रतिनिधित्व होगा।

ग्यारहवीं अनुसूची में उल्लिखित पंचायतों के कार्य

पंचायती राज संशोधन अधिनियम 1992 से संबंध संविधान में एक पृथक ग्यारहवीं अनुसूची को जोड़ा गया जिसके द्वारा पंचायत राज व्यवस्था के कार्य स्पष्ट किए गए। यह कार्य इस प्रकार है :

1. कृषि, जिसमें कृषि प्रसार भी सम्मिलित है।

2. भूमि सुधार, भूमि सुधारों का क्रियांवयन, भूमि की चकबंदी तथा भूमि संरक्षण।
3. लघु सिंचाई, जल प्रबंध तथा जल आच्छादन विकास।
4. पशुपालन, दुग्ध उद्योग तथा कुक्कुट पालन।
5. मत्स्य पालन।
6. सामाजिक वानिकी तथा कृषि वानिकी
7. लघु वन उत्पादन।
8. लघु उद्योग जिसके अंतर्गत खाद्य अनुरक्षण उद्योग सम्मिलित है।
9. खादी, ग्राम तथा कुटीर उद्योग।
10. ग्रामीण आवास।
11. पेयजल।
12. ईंधन और चारा।
13. सड़कों, पुलियों, पुलों, घाटों तथा संचार के साधनों की व्यवस्था।
14. ग्रामीण विद्युतीकरण जिसके अंतर्गत विद्युत का वितरण भी है।
15. गैर–पांरपरिक ऊर्जा के स्त्रोत।

ग्रामीण पुनर्निर्माण में पंचायतों का महत्व

इकाइयों के महत्व की तुलना की जाए तो स्पष्ट होता है कि इन सभी इकाइयों में ग्राम पंचायत का महत्व सबसे अधिक है। ग्राम पंचायत ने केवल गांव में स्वस्थ नेतृत्व का विकास करने का प्रयत्न करती है बल्कि इसी के माध्यम से एक ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था संभव हो पाती है जिसमें शासन का प्रवाह नीचे से ऊपर की और होता है। ग्राम पंचायते ही वे माध्यम है जिनके द्वारा स्थानीय जरूरतों के अनुसार योजनाओं के निर्माण के लिए सुझाव दिए जाते हैं तथा उन योजनाओं के कार्यान्वयन को प्रभावपूर्ण बनाया जाता है। गांधी जी ने कहा था, " यदि भारत की जनता के लिए स्वराज्य का कोई अर्थ है तो एक प्रारंभिक संस्था के रूप में ग्राम पंचायतों के विकास को सबसे अधिक महत्व देना होगा।" इस संदर्भ ने श्री ढेबर ने यह स्पष्ट किया है कि, पंचायतें केवल ग्रामीण विकास की ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारत के विकास की धुरी हैं। "भारत में ग्राम पंचायतों का महत्व इसी तथ्य से स्पष्ट हो

जाता है कि ग्राम पंचायतें छोटे से छोटे प्रत्येक स्थान पर ग्रामीणों को जनतंत्र की शिक्षा देने तथा उन्हें अपना विकास स्वयं करने को प्रशिक्षण देने वाली सबसे प्रभावपूर्ण माध्यम हैं।

पंचायती राज व्यवस्था का प्रभाव

पंचायती राज व्यवस्था आज देश के सभी भागों में कार्यान्वित हो चुकी है तथा इसकी विभिन्न इकाइयों द्वारा एक समन्वित विकास कार्यक्रम को व्यवहारिक रूप दिया जा रहा है। इस व्यवस्था के अनुसार प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण से संबंधित सभी कार्यक्रमों को ग्रामीण स्तर पर लागू करने के लिए पंचायत सहकारिता तथा विद्यालय तीन महत्वपूर्ण संस्थाएं है। कार्यक्रमों को लागू करने का दायित्व निर्वाचित सदस्यों वाली पंचायत का है। जबकि आर्थिक विकास का कार्य सहकारी समितियों के माध्यम से पूरा किया जाता है। पंचायती राज व्यवस्था के प्रमुख प्रभावों को निम्नांकित ग्रामीण क्षेत्रों में स्पष्ट किया जा सकता है :

1. पंचायती राज व्यवस्था के प्रभाव से ग्रामीण की परंपरागत जाति संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। जिन गांवों में कुछ समय पूर्व तक सभी जातियां एक दूसरे से पृथक समुदाय के रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए थीं, उनमें अब सामाजिक दूरी कम होने के साथ ही सात्मीकरण की प्रक्रिया भी प्रभावपूर्ण हो गई है। एवेलेन बुड ने यह स्पष्ट किया है कि पंचायती राज व्यवस्था के फलस्वरूप ग्रामीणों को मतदान का अधिकार मिला जिससे जाति संरचना में केवल ध्रुवीकरण की प्रक्रिया ही आरंभ नहीं हुई, बल्कि विभिन्न जातियों को एक दूसरे के निकट संपर्क में आने के अवसर भी प्राप्त हुए हैं। डॉ. श्री निवास ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि पंचायती राज की स्थापना से निम्न जातियां, विशेषकर, हरिजन जातियों में आत्मसम्मान की भावना बढ़ने के साथ ही शक्ति की एक नवीन अनुभूति का संचार हुआ है इससे स्पष्ट होता है कि पंचायत राज व्यवस्था ने परंपरागत शक्ति संरचना में परिवर्तन उत्पन्न करके जातिगत निर्योग्यताओं तथा जातिगत निषेधों के प्रभाव को कम कर दिया है।

2. पंचायती राज व्यवस्था से संबंध विभिन्न विकास कार्यक्रमों के फलस्वरूप ग्रामीणों के जीवन स्तर तथा प्रति व्यक्ति जीवन में व्याप्त अन्ध–विश्वासों तथा कुरीतियों का प्रभाव पहले की तुलना में बहुत कम हो चुका है। इसके फलस्वरूप आज ग्रामीण समुदाय में हीनता और निराशा की भावना उतने स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देती जैसी कि कुछ वर्षों पूर्व तक अनुभव की जाती थी।

3. गांव में शिक्षा का प्रसार होने तथा स्वास्थय सुविधाओं में वृद्धि होने से संक्रामक रोगों की समस्या पहले से काफी कम हो गई है। पीने के पानी की व्यवस्था, स्वच्छता के नियमों के प्रति जागरूकता तथा स्वास्थ्यकारी आवास व्यवस्था के फलस्वरूप ग्रामीण स्वास्थ्य के स्तर में भी सुधार हुआ है।

मूल्यांकन

अशोक मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में पंचायती राज व्यवस्था का मूल्यांकन इसके विकास की तीन अवस्थओं के आधार पर किया है – प्रथम, प्रभुत्व की व्यवस्था जो सन् 1959 से 1964 तक विद्यमान रही; द्वितीय निष्क्रियता या स्थिरता की अवस्था जो सन् 1965 से 1967 तक पाई गई; तृतीय अवनति की व्यवस्था जो 1959 से 1977 तक का पंचायती राज व्यवस्था का इतिहास चढ़ाव और उतार का इतिहास रहा है। प्रारंभिक अवस्था में पंचायती राज का कार्य अत्यधिक संतोषजनक था, दूसरे सार पर यह निष्क्रिय संस्था बन गई जबकि तीसरी अवस्था में इसकी अवनति होने लगी। इस प्रकार वर्तमान समय में पंचायती राज के सैद्धांतिक पक्ष से सहमत होते हुए भी इसके व्यावहारिक स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य आया है जिनके आधार पर इस व्यवस्था को ग्रामीण विकास का एक प्रभावपूर्ण माध्यम बनाया जा सके। आज पंचायतों की आय में वृद्धि करके ही इन्हें जन–सामान्य के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार को विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों और वहां की समस्याओं का वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त हो सकेगा। पंचायती राज व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर निर्वाचित व्यक्ति एक सीमा तक शिक्षित अवश्य हों। इसके अतिरिक्त निम्नांकित सुझावों के आधार पर भी पंचायती राज व्यवस्था की अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है :

1. ग्राम पंचायतों के विकास को प्रोत्साहन अवश्य मिलना चाहिए लेकिन साथ ही ग्रामीणों में पंचायत की कार्य–पद्धति की समझने के प्रति रूचि उत्पन्न करना भी आवश्यक है। यह कार्य प्रशिक्षण शिविर लगाकर पूर्ण किया जा सकता है।

2. पंचायती राज व्यवस्था की विभिन्न इकाइयां केवल शासन की इकाई के रूप में ही कार्य न करें बल्कि उन्हें मुख्य रूप से सामाजिक और आर्थिक विकास से संबंधित होना।

3. यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पंचायत राज संस्थाओं को अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए अधिक से अधिक आधिकार प्रदान किए जाएं लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक है कि इन संस्थाओं के साधनों का उपयोग केवल कृषि के विकास एवं उत्पादक कार्यों के लिए ही किया जाए।

अशोक मेहता समिति के सुझाव

पंचायती राज व्यवस्था का मूल्यांकन करने तथा इसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाने से सम्बंधित सुझाव देने के लिए 12 दिसम्बर 1977 को भारत सरकार ने अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति के समक्ष विभिन्न वर्गों तथा क्षेत्रों से दो प्रकार के विचार प्राप्त हुए एक विचारधारा के अन्तर्गत वे व्यक्ति थे जो पंचायती राज व्यवस्था के वर्तमान रूप में किसी प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते थे जिनके मतानुसार छोटी–छोटी ग्राम पंचायतों की वर्तमान प्रणाली उपयुक्त नहीं है। अतः 15000 से 20000 एकड़ क्षेत्र में एक वृहद् पंचायत की स्थापना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त समिति को अनेक अन्य सुझाव भी प्राप्त हुए जिनके आधार पर अशोक मेहता समिति ने अगस्त 1978 में सरकार के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार है :

1. सर्वप्रथम इस समिति ने पंचायती राज व्यवस्था कि लिए वर्तमान में प्रचलित त्रिस्तरीय व्यवस्था के स्थान पर द्विस्तरीय व्यवस्था में प्रथम पर जिला परिषद् होना चाहिए जो राज्य के बाद शासन के विकेन्द्रीकरण का दूसरा मुख्य बिंदु होगा। दूसरे शब्दों में जिले को एक लघु राज्य के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। इसे वे सभी अधिकार प्राप्त होने चाहिए जिनकी मांग आज राज्य सरकारें केन्द्र सरकार से करती हैं। पंचायती राज व्यवस्था का दूसरा स्तरमण्डल पंचायत के रूप में होना चाहिए जिसका निर्माण कुछ गांव समूहों को मिलाकर किया जाय इस संस्कृति की पृष्ठभूमि में अशोक मेहता समिति की मान्यता यह है कि छोटी पंचायतें आर्थिक रूप से निर्बल होने के कारण ग्रामीण विकास में समुचित योगदान नहीं कर पाती। इस दृष्टिकोण से पंचायतों की कार्य पद्धति वर्तमान व्यवस्था के लगभग समान होने के पश्चात् भी इनका कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक होना चाहिए।

2. विभिन्न गांवों में नागरिक सुविधा प्रदान करने के लिए समिति ने प्रत्येक गांव के लिए एक ग्राम स्तरीय समिति की स्थापना का सुझाव दिया। यह समिति अपनी संस्तुतियों को मण्डल पंचायत को भेज सकती है।

3. समिति ने जिला परिषद् के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव की एक अप्रत्यक्ष प्रक्रिया का सुझाव दिया है। जहां तक मण्डल पंचायत के निर्वाचन की प्रक्रिया का सम्बन्ध है इसे राज्य सरकारों पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

4. समिति ने यह विचार व्यक्त किया कि न्याय पंचायत का वर्तमान स्वरूप बनाये रखा जाना चाहिए लेकिन सरपंच के पद पर किसी न्यायाधीश की नियुक्ति होनी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त निर्वाचित पंच केवल उन्हीं मामलों में न्याय प्रदान करें जो उनके क्षेत्र से भिन्न हो।

5. समिति के अनुसार पंचायती राज पदाधिकारियों तथा विकास कार्यक्रमों के कार्यकर्ताओं को समुचित प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है।

6. इस समिति की महत्वपूर्ण संस्तुति यह थी कि पंचायत राज व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर राजनीतिक दलों को खुलकर भाग लेने की छूट होनी चाहिए। इस संस्तुति के पीछे समिति की यह मान्यता रही कि राजनीतिक दलों के आधार पर चुनाव होने से केवल ग्रामीणों में राजनीतिक चेतना का प्रसार होगा बल्कि वर्तमान में जो चुनाव जाति और धर्म के आधार पर होते हैं उन्हें वैचारिक आधार पर लड़ा जा सकेगा।

अशोक मेहता समिति द्वारा अगस्त 1978 में प्रस्तुत प्रतिवेदन पर 20 मई 1979 को मुख्यमंत्री सम्मेलन में विस्तृत रूप से विचार विमर्श किया गया।

विकास का समाजशास्त्र

आर्थिक विकास का विषय एक आधुनिक युग की विचारधारा है। आर्थिक विकास की समस्या सभी आर्थिक विकास प्रणालियों के लिए समान महत्व रखती है। 1930 की विश्वव्यापी मंदी के उपरांत प्रो. केंज ने अपनी पुस्तक में यह बतलाने की चेष्टा की कि उन्नत देशों में मंदी के कारण एक ओर तो चक्रीय बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न होती है। तथा आर्थिक विकास की चरम सीमा पर पहुंचने के उपरांत सुदीर्घकालीन जड़ता की स्थिति उत्पन्न होती है जबकि दूसरी ओर विश्व के दो तिहाई लोग आर्थिक पिछड़ेपन से पीड़ित हैं। प्रो. मायर और बाल्डविन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि, "राष्ट्रों के धन के अध्ययन की अपेक्षा राष्ट्रों के दरिद्रता के अध्ययन की अधिक आवश्यकता है।"

आर्थिक विकास के आशय – आर्थिक विकास शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – आर्थिक तथा विकास। आर्थिक शब्द का अर्थ है धन संबंधी। किंतु यहां पर धन शब्द का प्रयोग विस्तृत रूप से किया गया है। धन में वे सभी मानवीय, प्राकृतिक, पूंजीगत तथा तकनीकी संसाधन सम्मिलित किए गए हैं। जिनके आधार पर उत्पादकता और आय का सृजन किया जा सकता है। 'विकास' शब्द का अर्थ है – वृद्धि करना या विस्तार करना। इस प्रकार आर्थिक विकास का सामूहिक अर्थ है कि देश के

सभी प्रकार के संसाधनों में विस्तार एवं वृद्धि करना, जिसके परिणाम स्वरूप देश की कुल उत्पादकता और राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जा सकें। अतः आर्थिक विकास एक सतत् प्रक्रिया है जिससे कि देश की कुल उत्पादकता और आय के स्तर में निरंतर वृद्धि होती रहती है। यदि यह प्रक्रिया किसी भी देश में किसी समय विशेष पर विद्यमान है तो इसका अर्थ है कि उस देश का आर्थिक विकास हो रहा है।

आर्थिक विकास की परिभाषा – आर्थिक विकास की सुनिश्चित और सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यंत कठिन कार्य है क्योंकि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसे विभिन्न आधारों पर परिभाषित किया है। कुछ विद्वानों ने कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि को ही आर्थिक विकास माना है। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व प्रो. कुज्नेट्स मायर और वाल्डसिन, ऐ.जे. यंगसन आदि विद्वानों ने किया है। जबकि कुछ विद्वानों ने प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि को आर्थिक विकास कहा है।

मानवीय विकास

आर्थिक विकास का मूल लक्ष्य, यद्यपि वास्तविक राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय में सुदीर्घकालीन वृद्धि लाना है। किंतु यह एकमात्र लक्ष्य नहीं। आर्थिक विकास का अर्थ है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ–साथ आर्थिक संरचना में परिवर्तन, लोगों को उच्च जीवन स्तर उपलब्ध कराना, उनकी मान्यताओं एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना, देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना तथा मानव का सर्वांगीण विकास करना है इस संदर्भ में आर्थिक विकास की परिभाषा भारतीय अर्थशास्त्री प्रो. डी. ब्राइट सिंह ने इस प्रकार दी है, "आर्थिक विकास बहुमुखी प्रवृति का घोतक है जिसमें केवल मौद्रिक आय में वृद्धि ही सम्मिलित नहीं होती वरन् सामाजिक आदतें, शिक्षा जनस्वास्थ्य, अधिक आराम और वस्तुतः उन समस्त सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में वृद्धि सम्मिलित होती है। जो एक पूर्ण एवं सुखी जीवन का निर्माण करती है।" अतः विकास का अर्थ केवल आर्थिक वृद्धि ही नहीं वरन् आर्थिक संवृद्धि के साथ– साथ सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थागत परिवर्तन का योग भी है।

आर्थिक संवृद्धि

आर्थिक विकास, आर्थिक संवृद्धि तथा आर्थिक प्रगति को पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है। किंतु इन धारणाओं में अंतर व्यक्त करने का श्रेय प्रो. शुम्पीटर को 1911 में (Theory of Economic Development) नामक ग्रंथ के आधार पर दिया जाता है। आधुनिक समय में श्रीमति

उर्सल्ला हिक्स, किण्डल वरजर, मायर और बाल्डीवन, डी. ब्राइट सिंह आदि अनेक अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास और आर्थिक संवृद्धि में भेद किया है। प्रो. शुम्पीटर के विचार में आर्थिक विकास स्थिर संतुलन में होने वाला वह निरंतर और स्वाभाविक परिवर्तन है जो वर्तमान संतुलन की अवस्था को सदा के लिए परिवर्तित और विस्थापित कर देता है। जबकि आर्थिक संवृद्धि दीर्घ काल में होने वाला क्रमिक और स्थिर परिवर्तन है जो बचतों और जनसंख्या की दर में सामान्य वृद्धि के द्वारा आता है।

आर्थिक विकास और संवृद्धि में अंतर

आर्थिक विकास और आर्थिक संवृद्धि पर विभिन्न विद्वानों के मतों का अध्ययन करने के उपरांत यह ज्ञान प्राप्त होता है कि आर्थिक संवृद्धि की अपेक्षा आर्थिक विकास का प्रयोग अधिक विस्तृत अर्थ में लिया जाता है।

VPM CLASSES

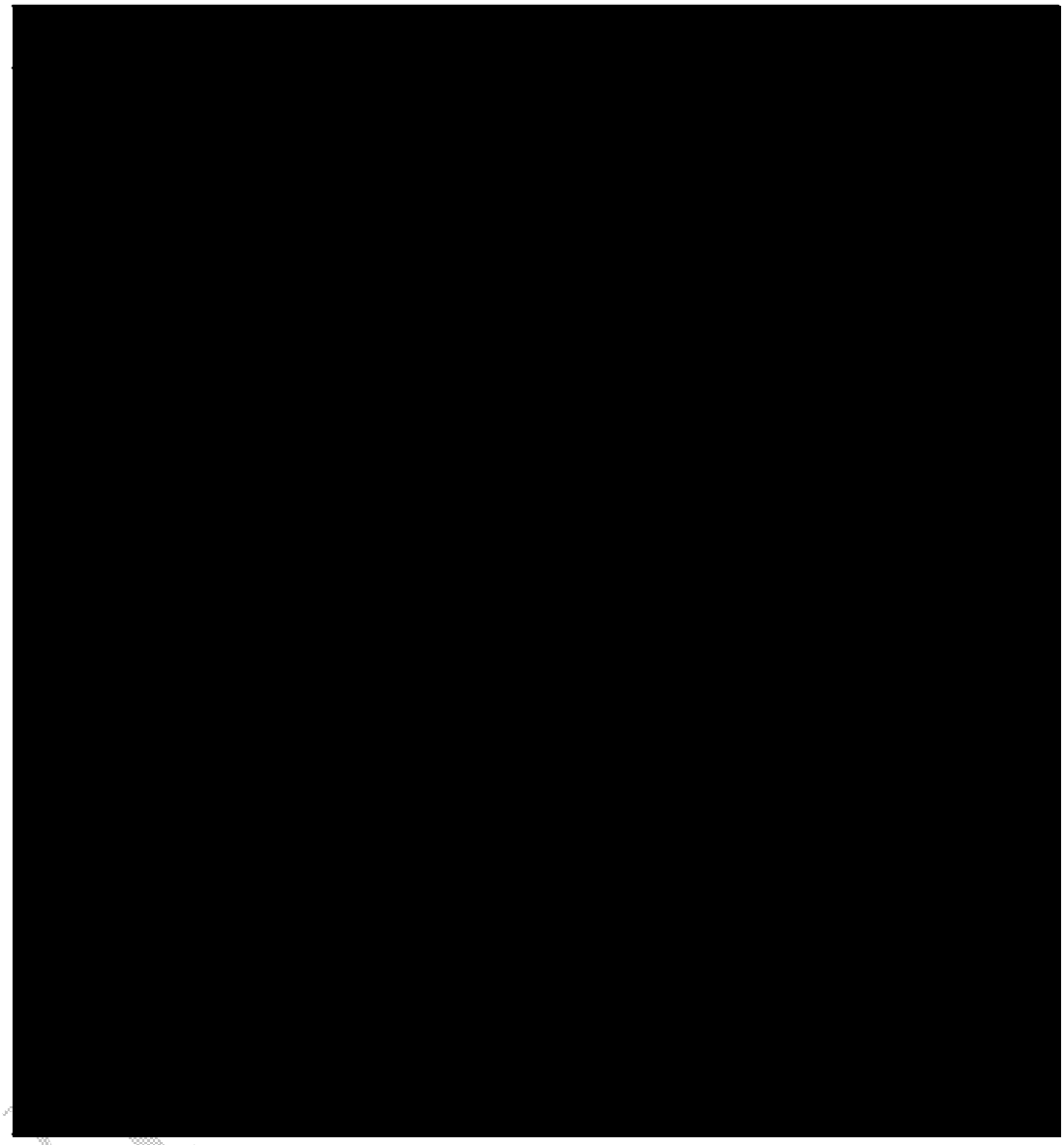

जनसंख्या एवं समाज

जनसंख्या वृद्धि के सिद्धान्त

किसी देश की जनसंख्या वृद्धि तथा उसके आर्थिक विकास उसके रहन सहन के स्तर के साथ परस्पर गहरा संबंध होता है। आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि हमारे देश में, खासकर शहरी

इलाकों में, गरीब परिवार की तुलना में समृद्ध परिवार छोटे होते हैं। लेकिन ग्रामीण इलाकों में आमतौर पर पर्याप्त भू संपति वाले परिवारों की तुलना में भूमिहीन मजदूरों के परिवार छोटे होते हैं साथ ही प्रारंभिक अवस्था में आर्थिक वृद्धि से जनसंख्या वृद्धि में तेजी आ सकती है। जनसंख्या के तेजी से बढ़ने, संसाधनों के सीमित होने के कारण से आर्थिक विकास की गति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। भारत में यही हो रहा है। ऐसी हालत में जब तक और अधिक भूमि तथा अन्य संसाधन उपलब्ध नहीं होते, तीव्र जनसंख्या वृद्धि के विनाशकारी परिणाम हो सकते हैं। और अधिक संसाधन जुटाने की संभावना नहीं है। आज भारत की स्थिति यह है कि जितनी तेजी से जनसंख्या बढ़ेगी जीवित बचे रहने के लिए हमारी लड़ाई उतनी ही अधिक कठिन होती जाएगी।

जनसंख्या तथा विकास अंतः संबंध

जनसंख्या तथा विकास के बीच संबंधों को तीन अलग–अलग दृष्टिकोण से देखा जा सकता है :

1. विकास जनसंख्या पर आश्रित हैं, अर्थात् जनसंख्या स्वतंत्र चर है और विकास आश्रित चर है।
2. जनसंख्या विकास पर आश्रित हैं, अर्थात् विकास स्वतंत्र चर हैं : और जनसंख्या आश्रित चर है तथा
3. जनसंख्या और विकास दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस तरह उनमें आपस में कार्य कारण संबंध है।

परंतु यह याद रखना चाहिए कि इन दोनों का आपसी संबंध बड़ा जटिल है। इस जटिलता को बिना समझें बिना हम इन दोनों के आपसी संबंधों के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकेंगे।

माल्थसवादी

जो लोग गरीबों को जनसंख्या के आधिक्य का परिणाम मानते हैं वे प्रायः अपनी दलील के समर्थन में टॉमस राबर्ट माल्थस के सिद्धान्त का हवाला देते हैं। लगभग 200 साल पहले, सन् 1798 में एक अंग्रजी पादरी माल्थस ने जनसंख्या से संबंधित अपने विचारों को एक अनामक पुस्तक में प्रस्तुत किया जिसे 'एन ऐसे ऑन द प्रिंसिपल ऑफ पापुलेशन एज इट अफेक्ट्स द फयुचर इम्प्रूवमेंट ऑफ सोसायटी' कजा जाता है। इस पुस्तक के बाद के संस्करण माल्थस के नाम के साथ प्रकाशित किए गए जिसमें उसने अपने जनसंख्या सिद्धांत को सुधरे हुए रूप में प्रस्तुत किया।

माल्थस ने खाद्य पदार्थों की पूर्ति और जनसंख्या में वृद्धि की गति की तुलना की और इस संबंध में दो मुख्य विचार प्रस्तुत किए :

1. जनसंख्या को यदि नियंत्रित न किया जाए तो उसमें गुणोतर वृद्धि होती हैं, अर्थात् प्रारंभिक वर्ष की जनसंख्या के आधार पर ही नहीं, बल्कि उसमें आज जुड़ गई संख्या के गुणज में जनसंख्या बढ़ती है। लेकिन जीवन निर्वाह के साधनों में वृद्धि समांतर श्रेणी में ही होती हैं, जैसे एक धनराशि जिस पर साधारण ब्याज मिल रहा हो और जो प्रति वर्ष मूलधन में जोड़ दिया जाए। इसका अर्थ यह हुआ खाद्यानों की पूर्ति की तुलना में जनसंख्या अधिक तेजी से बढ़ती हैं। उदाहरण के लिए जनसंख्या यदि 2 की गुणात्मक श्रेणी में बढ़ेगी जैसे –

1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, 128, 256, 512, 1024 तो बारहवें वर्ष में 2048 हो जाएगी जबकि खाद्यान की पूर्ति यदि 2 की समांतर श्रेणी में बढ़ेगी जैसे – 1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15, 17, 19, 21 और बारहवें वर्ष 23 हो जाएगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक समय ऐसा आएगा कि जनसंख्या की तुलना में खद्यानों की पूर्ति कम हो जाएगी और इस खाद्यान की कमी के कारण उल्टे जनसंख्या वृद्धि में कमी हो जाएगी तथा,

2. यदि लोगों ने "विरोधात्मक" उपायों जैसे नैतिक अनुशासन या अधिक आयु में आदि को अपनाकर जन्मदर को कम नहीं किया तो "प्राकृतिक" उपाय जैसे महामारी, युद्ध, संक्रामक रोग, प्लेग, अकाल आदि अवश्य ही अपना प्रभाव दिखाऐंगे और उसमें मृत्यु दर बढ़ जाऐगी जिसके फलस्वरूप जनसंख्या में कमी आ जाएगी।

असमानता और गरीबी

जहां तक असमानता और गरीबी का संबंध है, वे जनसंख्या आधिक्य के परिणाम से कहीं अधिक सामाजिक संरचना के लक्षण हैं। इसलिए इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि न तो अकेले जनसंख्या नियंत्रण और न ही अकेले आर्थिक विकास, असमानता और गरीबी की समस्या का हल कर सकेंगे। इसके लिए हमें जनसंख्या नियोजन की नीति और आर्थिक विकास के साथ – साथ सामाजिक रूपांतरण की एक उपयुक्त नीति भी अपनानी होगी। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों का यह कहना है कि कुल मिलाकर लोग इसलिए गरीब नहीं हैं कि उनके परिवार बड़े हैं बल्कि गरीब लोगों के परिवार गरीबी के कारण बड़े हैं, यद्यपि यह बात भी हमेशा सच नहीं होती।

जनसंख्या तथा विकास के बीच दुतरफा संबंध

जनसंख्या और आर्थिक विकास के परस्पर संबंध को बिल्कुल साफ–साफ बता पाना बहुत कठिन है। फिर भी यह सत्य है कि दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। आर्थिक विकास का जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव पड़ता है और जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर। इस तरह इन दोनों के बीच पारस्परिक या दुतरफा संबंध हैं। यह दृष्टिकोण वास्तविकता के अधिक निकट है। विश्व जनसंख्या कार्य योजना से भी इस मत का समर्थन हुआ है।

इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत जनसंख्या नियोजन तथा विकास नियोजन के एकीकरण की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जनसंख्या और विकास परस्पर एक दूसरे के साथ अनुकूल स्थिति में हो। इस दृष्टि कोण से जनसंख्या वृद्धि विकास में सहायक होती हैं या अवरोधी, यह कई कारणों पर निर्भर करता है।

भारत की जनगणना 2011

केन्द्रीय गृह सचिव जी. के. पिल्लई ने 31 मार्च 2011 को भारत की जनगणना 2011 के शुरूआती आंकड़े जारी किए। इस अवसर पर उनके साथ देश के महापंजीयक व जनगणना आयुक्त सी. चंद्रमौली भी उपस्थित थे। भारत की जनगणना 2011 वर्ष 1872 के बाद इस अबोध श्रृंखला में पंद्रहवी और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सातवीं जनगणना थी। इस अति महत्वपूर्ण राष्ट्रीय अभियान पर लगभग 2200 करोड़ रूपये खर्च हुए। दो चरणों में पूर्ण हुई इस जनगणना का पहला चरण अप्रैल से सितम्बर, 2010 के बीच, जबकि दूसरा चरण 9 से 28 फरवरी, 2011 के बीच पूरा हुआ। भारत की जनगणना 2011 का शुभंकर एक 'प्रगणक शिक्षिका' को बनाया गया था। इस जनगणना का स्लोगन था 'हमारी जनसंख्या हमारा भविष्य'। जनगणना के शुरूआती आंकड़ों के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 1 मार्च 2011, को 1, 21, 01, 93, 422 है, जो अमेरिका इंडोनेशिया, ब्राजील, पाकिस्तान, बांग्लादेश और जापान की कुल सम्मिलित जनसंख्या के बराबर है यह विश्व की कुल जनसंख्या का 17.5 प्रतिशत है। जनगणना–2011 के शुरूआती आंकड़ो का सबसे उल्लेखनीय पक्ष यह है कि इसमें पिछले दशक (1991–2001) के मुकाबले जनसख्या की वृद्धि में गिरावट दर्ज की गई है। जहाँ 1991–2001 के दौरान भारत की जनसंख्या में 21.15 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, वहाँ 2001–11 के दौरान यह दशकीय वृद्धि मात्र 17.64 प्रतिशत रह गई है। 2001–11 के दौरान भारत की जनसंख्या में

ब्राजील की जनसंख्या के बराबर वृद्धि हुई है। भारत की जनसंख्या 2011 के शुरूआती आंकड़ों की कुछ अन्य प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं –

• दुनिया के सबसे ज्यादा आबादी वाले देश चीन और भारत के बीच का फासला भी घटा है। 2001 में 23.8 करोड़ था जो 2011 में 13 करोड़ हो गया।

• देश में महिलाओं की कुल आबादी 58 करोड़ 65 है।

• पुरूषों की कुल आबादी 62 करोड़ 37 लाख है।

• बीते दस वर्षों में भारत की जनसंख्या में 17.64 प्रतिशत बढ़ोतरी हुई।

• 2001 – 2011 के दौरान कुल जनसंख्या में 18 करोड़ का इजाफा हुआ है।

• पुरूषों की आबादी में 17 प्रतिशत और महिलाओं की आबादी में 18 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है।

• 6 साल तक के बच्चों की संख्या घटी है।

• पुरूषों के मुकाबले महिलाओं की साक्षरता दर बढ़ने का भी संकेत है।

• 15वीं जनसंख्या के प्रारंभिक आंकड़ों के मुताबिक पिछले दस वर्षों में भारत का कुल लिंगानुपात 933 से बढ़कर 940 हो गया, जो वर्ष 1961 के बाद सर्वाधिक है। लेकिन बच्चों का लिंगानुपात 927 से घटकर 914 हो गया है। ये अनुपात आजाद भारत का सबसे निचला स्तर है।

• 28 राज्यों और 7 केन्द्र शासित प्रदेशों में लिंगानुपात सुधरा है, लेकिन बिहार, गुजरात और जम्मू कश्मीर में इसमें गिरावट आई है।

• भारत की जन्म दर में गिरावट आई है। कुल जनंसख्या के मुकाबले बच्चों की जनसंख्या का अनुपात 2001 में 15.9 प्रतिशत से गिरकर 2011 में 13.1 प्रतिशत हो गया है, जो भारत में घटती उर्वरता का सूचक है।

• नागालैंड देश का एकमात्र राज्य है, जिसकी जनसंख्या में कमी आई है।

• मुंबई के नजदीक का ठाणे सबसे अधिक आबादी वाला जिला उभरकर सामने आया है।

• हरियाणा और चंडीगढ़ में कम से कम 110 वर्षों में सबसे बेहतर महिला अनुपात दर्ज किया गया है, जो क्रमशः 877 और 818 पर है। लेकिन यह अब भी देश में सबसे बदतर है, जो इस बात का संकेत है कि भ्रूण हत्याएं अब भी जारी है।

• दमन और दीव में बच्चियों के जन्म में भारी कमी दर्ज की गई है, जो 1991 में 969 से गिरकर 2011 में 18 महिलाएं प्रति हजार हो गई है।

• पहली जनगणना में कुल 14 सवाल पूछे गए थे। वर्ष 2011 की जनगणना में 29 सवाल पूछे गए।

• इस बार की जनगणना में 7 हजार शहर और 6 लाख गांवों में लोगों की गिनती की गई।

• 2011 की जनगणना में कुछ नए सवाल जोड़े गए। मसलन–कम्प्यूटर/लैपटॉप की उपलब्धता और इंटरनेट सुविधा। खना बनाने के लिए ईधन के रूप में एलपीजी को शामिल किया गया।

• पहली बार किन्नरों को अन्य श्रेणी में शामिल किया गया। उन्हें न तो महिला ओर न ही पुरूष श्रेणी में रखा गया।

• सेक्स वर्करों को पहली बार जनगणना में भिखारी की बजाय एक वर्ग नाम दिया गया।

• देश के कुछ जनजातियों की जनगणना रात में की जाती है क्योंकि दिन में उनका एक ठिकाना नहीं होता।

• अडंमान निकोबार द्वीप समूह जैसे इलाकों में कुछ ऐसी जनजाति है जो इंसानों से मेलजोल नहीं रखती और उनसे सम्पर्क भी प्रतिबंधित है। इनकी जनगणना के लिए द्विपों के चारो तरफ नाव के जरिए कमल और नारियल जैसे सामान भेजे जाते है। उनसे आकर्षित होकर जब वे पानी की तरफ आते है तभी जनगणना होती है।

• साल 2030 में भारत की आबादी 1 अरब 40 करोड़ के पार होगी व भारत चीन से आगे होगा।

जनसंख्या का राज्यवार वितरण

क्र.स.	भारत/राज्य केंद्र शासित क्षेत्र	जनसंख्या 2011	दशक में प्रतिशत वृद्धि
	भारत	1,210,193,422	17.64
1	जम्मू कश्मीर	12,548,926	23.71
2.	हिमाचल प्रदेश	6,856,509	12.81
3.	पंजाब	27,704,236	13.73
4.	चंडीगढ़	1,054,686	17.10
5.	उतराखंड	10,116,752	19.17
6.	हरियाणा	25,353,081	19.90

7.	दिल्ली	16,753,235	20.96
8.	राजस्थान	68,621,012	21.44
9.	उतर प्रदेश	199,581,477	20.09
10.	बिहार	103,804,637	25.07
11.	सिक्किम	607,688	12.36
12.	अरूणाचल प्रदेश	1,382,611	25.92
13.	नागालैंड	1,980,602	−0.47
14.	मणिपुर	2,721,756	18.65
15.	मिजोरम	1,091,014	22.78
16.	त्रिपुरा	3,671,032	14.75
17.	मेघालय	2,964,007	27.82
18.	असम	31,169,272	16.93
19.	प. बंगाल	91,347,736	13.93
20.	झारखण्ड	32,966,238	22.34
21.	उड़ीसा	41,947,358	13.97
22.	छतीसगढ़	25,540,196	22.59
23.	मध्य प्रदेश	72,597,565	20.30
24.	गुजरात	60,383,628	19.17
25.	दमन और दीव	242,911	53.54
26.	दादरा एवं नगर हवेली	342,853	55.50
27.	महाराष्ट्र	112,372,972	15.99
28.	आंध्र प्रदेश	84,665,533	11.10
29.	कर्नाटक	61,130,704	15.67
30.	गोवा	1,457,723	8.17
31.	लक्षद्वीप	64,429	6.23

32.	केरल	33,387,677	4.86
33.	तमिलनाडु	72,138,958	15.60
34.	पुडुचेरी	1,244,464	27.72
35.	अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह	379,944	6.68

राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों की सघनता

भारत / राज्य / केन्द्र शासित क्षेत्र	सघनता प्रति वर्ग कि.मी 2011
दिल्ली	11,297
चंडीगढ़	9,252
पुडुचेरी	2,598
लक्षद्वीप	2,013
दमन और दीव	2,169
पश्चिम बंगाल	1,029
बिहार	1,102
केरल	859
उतर प्रदेश	828
पंजाब	550
तमिलनाडु	555
हरियाणा	573
दादर और नगर हवेली	698
गोवा	394
असम	397
झारखंड	414
महाराष्ट्र	365
त्रिपुरा	350
आंध्र प्रदेश	308

VPM CLASSES

कर्नाटक	319
गुजरात	308
उड़ीसा	269
मध्य प्रदेश	236
राजस्थान	201
उतराखंड	189
छतीसगढ़	189
नागालैंड	119
हिमाचल प्रदेश	123
मणिपुर	122
मेघालय	132
जम्मू और कश्मीर	124
सिक्किम	86
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	46
मिजोरम	52
अरूणाचल प्रदेश	17

जनसंख्या और विकास

जनसंख्या वृद्धि संबंधित आशावादी दृष्टिकोण विकसित देशों में अवश्य लागू किया जा सकता है। किंतु अल्पविकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि का निराशावादी तथा नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इस दृष्टिकोण को व्यक्त करने का प्रयास प्रो. एच. डब्ल्यू. सिंगार तथा प्रो. विल्लार्ड आदि प्रमुख विद्वानों ने किया है। इनका मत है कि जनसंख्या वृद्धि वर्तमान समय में आर्थिक विकास में सबसे बड़ी बाधा है। प्रो. सिंगार के अनुसार आर्थिक विकास की दर पर जनसंख्या वृद्धि नकारात्मक अथवा ऋणात्मक प्रभाव डालती है। उन्होंने आर्थिक विकास की दर को शुद्ध बचतों की दर तथा नए निवेशों की उत्पादकता की वृद्धि दरों पर जनसंख्या वृद्धि की दर के ऋणात्मक प्रभावों को निम्न सूत्र द्वारा समझाया जा सकता है।

D = SP-r

जहां D= आर्थिक विकास की दर, S= बचत आय अनुपात, P= नए निवेशों की उत्पादकता तथा r = जनसंख्या में रूकावट की दर इस सूत्र में r ऋणात्मक तत्व के रूप में आर्थिक विकास में रूकावट पैदा करता है।

प्रो. विल्लार्ड का मत है कि अल्पविकसित देशों की मूल परिस्थितियों का अवलोकन किए बिना कोई निष्कर्ष निकालना उचित न होगा।

जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास में तभी सहायक हो सकती है जबकि सामाजिक अभिरुचियां तथा मानव मूल्यों आर्थिक विकास के अनुकूल हो अल्पविकसित देशों में एक ओर तो साधनों की न्यूनता है और दूसरी ओर सामाजिक दिशाएं प्रतिकूल।

VPM CLASSES